

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र में 'प्रत्यक्ष प्रमाण'

श्रीप्रकाश पाण्डेय

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र का भाष्य वाचक उमास्वाति (ई० सन् ३६५-४००) द्वारा रचित स्वोपज्ञ कृति है। यह जैन आगमिक-दार्शनिक साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पूरे जैन वाङ्मय में यदि कोई एक ग्रन्थ चुनना हो जो जैनदर्शन के लगभग प्रत्येक आयामों पर प्रकाश डालता हो तो वह वाचक उमास्वाति रचित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ही है, जिसे जैन वाङ्मय का प्रथम संस्कृत ग्रन्थ होने का गौरव भी प्राप्त है। सूत्रशैली में निबद्ध दशाध्यायात्मक इस लघुकाय ग्रन्थ में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्व सम्बद्ध समस्त जैन तत्त्वज्ञान को संक्षेप में गागर में सागर की तरह भर दिया है जो उनकी असाधारण प्रज्ञा, क्षमता एवं उनके विशाल ज्ञानभंडार का परिचायक है। जैन परम्परा के सभी सम्प्रदायों में इस ग्रन्थ को समानरूप से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस ग्रन्थ पर, वृत्ति एवं टीकाएँ लिखीं तथा सूत्रों का अवलम्बन लेकर अपने-अपने अभीष्ट मतप्रदर्शक सिद्धांत प्रतिफलित किए। परंतु इस सबके बावजूद एक वस्तु निर्विवाद रही है : वह है ग्रन्थ की उपादेयता।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र का संकलन आगमिक दृष्टि से जितना अधिक सुन्दर और आकर्षक हुआ है उसके रचयिता के विषय में उतने ही अधिक विवाद हैं। यही कारण है कि आज भी इस ग्रन्थ के रचयिता उमास्वाति हैं या गृध्रपिच्छ इसको लेकर विवाद कायम है। उसी प्रकार तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य की रचना को लेकर भी विवाद के बादल पूर्ववत् छाये हुए हैं।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता के रूप में उमास्वाति का नाम सामान्यतया श्वेताम्बर परंपरा में सर्वमान्य है। किन्तु पं० फूलचंदजी 'सिद्धान्तशास्त्री' प्रभृति दिगम्बर विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के रूप में उमास्वाति के स्थान पर गृध्रपिच्छाचार्य को स्वीकार किया है। उनके शब्दों में "वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र की रचना की थी किन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्र का न हो कर तत्त्वार्थभाष्य का है"। इस सन्दर्भ में उन्होंने षट्खण्डागम की धवलाटीका में वीरसेन (९वीं शती उत्तरार्ध) द्वारा उद्धृत तत्त्वार्थ के एक सूत्र, 'तहगिद्धपिच्छाडिरियाप्पयासिद तच्चत्थसुत्तेवि वर्तना परिणामक्रियाः परत्वा परत्वे च कालस्य'^१, विद्यानन्द (२०वीं शती पूर्वार्ध) द्वारा उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक^२ में 'एतेन गृध्रपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता' के आधार पर तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में गृध्रपिच्छ का उल्लेख एवं वादिराजसूरी द्वारा पार्श्वनाथचरित में 'गृध्रपिच्छ नतोऽस्मि' इस तरह किए गए इन तीन उल्लेखों को अपना आधार बनाया है। इनमें एक प्रमाण नवीं शती के उत्तरार्ध, एक दशवीं शती के पूर्वार्ध का एवं एक प्रमाण म्यारहवीं शती का है। परंतु जहाँ दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में ९वीं शती के उत्तरार्ध से गृध्रपिच्छाचार्य के और १२वीं शती से 'गृध्रपिच्छ उमास्वाति' ऐसे उल्लेख मिलते हैं वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थभाष्य (चौथी शती) तथा सिद्धसेनगणि (८वीं शती) और हरिभद्र (८वीं शती) की प्राचीन टीकाओं में भी उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। यही नहीं, उनके वाचक वंश और उच्चैर्नागर शाखा का भी उल्लेख है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा अपना मानती है। तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति ही हैं और गृध्रपिच्छ उनका विशेषण है इस बात को दिगम्बर विद्वान् पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने भी स्वीकार किया है^३। पं० नाथूराम प्रेमी जैसे तटस्थ विद्वानों ने भी तत्त्वार्थभाष्य को स्वोपज्ञ मानकर उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति को ही स्वीकार किया है। पं० फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री ने सम्भवतः इस भय के कारण कि तत्त्वार्थ के कर्ता उमास्वाति को स्वीकार करने पर कहीं भाष्य को भी स्वोपज्ञ न मानना पड़े, उसके कर्ता के रूप में गृध्रपिच्छाचार्य का उल्लेख किया है^४। अतः यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य वाचक उमास्वाति द्वारा

रचित प्रस्तुत शास्त्र पर उन्हीं की स्वोपज्ञ कृति है ।

चूंकि हमारा मुख्य विवेच्य ग्रन्थ का कर्ता और उसका समय नहीं है इसलिये हम इन विवादों में न पड़कर अपने मूलविवेच्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन करेंगे ।

दार्शनिक चिन्तनधारा में प्रमाण को एक अत्यन्त विचारगर्भ्य विषय माना गया है । इसीलिए सभी दार्शनिक निकायों में प्रमाण को लेकर विस्तृत विचार हुआ है । 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'^६ जिसके द्वारा प्रमा (अज्ञाननिवृत्ति) हो वह प्रमाण है । 'प्रमाण' शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार ही न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने 'ज्ञानोपलब्धि के साधनों' को प्रमाण कहा है^७ । इसकी व्याख्या करनेवालों में मतभेद है । न्यायवार्तिककार उद्योतकर अर्थ की उपलब्धि में सन्निकर्ष को साधकतम मानकर उसे ही प्रमाण मानते हैं । उनके अनुसार अर्थ का ज्ञान कराने में सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है । क्योंकि चक्षु का घट के साथ संयोग होने पर ही घट का ज्ञान होता है, जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता, उसका ज्ञान नहीं होता । नैयायिक संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव इन छः प्रकार के सन्निकर्षों के आधार पर प्रमाण की व्याख्या करते हैं । इसके अतिरिक्त नैयायिक कारक-साकल्य को भी प्रमा का कारण मानते हैं^८ । जो साधकतम होता है वह कारण है और अर्थ का व्यभिचार रहित ज्ञान कराने में जो कारण है, वह प्रमाण है । उनकी मान्यता है कि ज्ञान किसी एक कारक से नहीं होता अपितु समग्र कारकों के होने पर नियम से होता है । इसलिये कारक-साकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है अतः वही प्रमाण है ।

सांख्य अर्थ की प्रमिति में इन्द्रिय-वृत्ति को साधकतम मानते हुए उसे ही प्रमाण मानता है । इन्द्रियाँ जब विषय का आकार परिणमन करती हैं तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती हैं । इन्द्रियों की विषयाकार परिणीत वृत्ति ही प्रमाण है ।

मीमांसक ज्ञातव्यापार को प्रमाण मानते हैं—तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता* । उनका मानना है कि ज्ञातव्यापार के बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता । कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमें क्रिया होती है । इसलिए क्रिया से युक्त द्रव्य को कारक कहा गया है, जैसे रसोई पकाने के लिए चावल, पानी, आग आदि अनेक कारक जो पहले से तैयार होते हैं, उनके मेल से रसोई तैयार होती है, उसी प्रकार आत्मा, मन, इन्द्रिय और पदार्थ इन चारों का मेल होने पर ज्ञाता का व्यापार होता है जो पदार्थ के ज्ञान में साधकतम कारण है । अतः ज्ञातव्यापार ही प्रमाण है ।

बौद्ध प्रमाण को अज्ञात अर्थ या अनधिगत विषय का ज्ञापक अथवा प्रकाशक मानते हैं । बौद्धों के अनुसार प्रमाण का लक्षण है—'अर्थसारूप्य'—अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् (न्यायबिन्दु-१.२०) । वे मानते हैं कि अर्थ के साथ ज्ञान का जो सादृश्य होता है, वही प्रमाण है । उनके सारूप्य लक्षण प्रमाण का तात्पर्य है कि बुद्धि प्रमाण है, इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि हेय या उपादेय वस्तु के त्याग या ग्रहण करने का अतिशय साधन ज्ञान ही है अतः वही प्रमाण है । इस प्रकार बौद्ध ज्ञान को प्रमाण मानते हैं किन्तु उनके अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं — निर्विकल्पक और सविकल्पक । बौद्ध मत में प्रत्यक्षरूप ज्ञान निर्विकल्पक होता है और अनुमानरूप ज्ञान सविकल्पक । ये दो ही प्रमाण बौद्ध मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार विषय भी दो प्रकार का होता है — (१) स्वलक्षणरूप एवं (२) सामान्यलक्षणरूप । स्वलक्षण का अर्थ है वस्तु का स्वरूप जो शब्द आदि के बिना ही ग्रहण किया जाता है । सामान्यलक्षण का अर्थ है — अनेक वस्तुओं के साथ गृहीत वस्तु का सामान्य रूप जिसमें शब्द का प्रयोग होता है । स्वलक्षण, प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का । जो कल्पना से रहित अभ्रान्त किंवा निर्भ्रान्त ज्ञान होता है, उसे बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष कहा गया है^९ ।

* लेखक ने ग्रन्थाधार नहीं दिया है । (संपादक)

जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के सम्बन्ध में उक्त मतों को अस्वीकार किया है । जैनों के अनुसार नैयायिकों द्वारा मान्य सन्निकर्षादि को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उक्त सन्निकर्षादि (जड़) अज्ञानरूप हैं और अज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति रूप प्रमा सम्भव नहीं है । अज्ञान निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही कारण हो सकता है जिस प्रकार अंधकार की निवृत्ति में अंधकार का विरोधी प्रकाश । इन्द्रिय सन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् कारण हो सकते हैं पर प्रमा में साधकतम तो ज्ञान ही हो सकता है । दूसरे, जिसके होने पर ज्ञान हो और नहीं होने पर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है, जबकि सन्निकर्ष में ऐसी बात नहीं है । कहीं-कहीं सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता, जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का संयोग रहता है फिर भी आकाश का ज्ञान नहीं होता । एक ज्ञान ही है जो बिना किसी व्यवधान के अपने विषय का बोध कराता है । अतः वही प्रमिति में साधकतम है और इस लिये वही प्रमाण है, सन्निकर्षादि नहीं । तीसरे, यदि सन्निकर्षादि को प्रमाण माना जाय तो सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध न होने से उनके द्वारा उन पदार्थों का ज्ञान असम्भव है; फलतः सर्वज्ञता का अभाव हो जायेगा^{१०} । इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ अल्प-केवल स्थूल, वर्तमान और आसन्न विषयक हैं और ज्ञेय सूक्ष्म अपरिमिति है । ऐसी स्थिति में इन्द्रियों और सन्निकर्ष से समस्त ज्ञेयों का ज्ञान कभी नहीं हो सकता । चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी होने के कारण सभी इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष भी संभव नहीं । चक्षु स्पृष्ट का ग्रहण न करने और योग्य दूर स्थित अस्पृष्ट का ग्रहण करने से अप्राप्यकारी है । यदि चक्षु प्राप्यकारी हो तो उसे स्वयं में लगे अंजन को भी देख लेना चाहिए^{११} । अतः सन्निकर्ष और इन्द्रियादि प्रमाण नहीं हो सकते । उसी प्रकार कारक-साकल्य को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता । कारक-साकल्य को प्रमाण मानने पर प्रश्न उठता है कि कारक-साकल्य मुख्य रूप से प्रमाण है या उपचार से । वह मुख्य रूप से प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि कारक-साकल्य अज्ञान रूप है और जो अज्ञान रूप है वह स्व और पर की प्रमिति में मुख्य रूपेण साधकतम नहीं हो सकता । प्रमिति में मुख्य साधकतम तो अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही हो सकता है । क्योंकि ज्ञान और प्रमिति के बीच में किसी दूसरे का व्यवधान नहीं है । ज्ञान के होते ही पदार्थ की प्रमिति हो जाती है । किन्तु कारक-साकल्य में यह बात नहीं है । कारक-साकल्य ज्ञान को उत्पन्न करता है, तब पदार्थ की प्रमिति या जानकारी होती है । अतः कारक-साकल्य और प्रमिति के बीच में ज्ञान का व्यवधान होने से कारक-साकल्य को मुख्य रूप से प्रमाण नहीं माना जा सकता^{१२} ।

सांख्यों के इन्द्रियवृत्ति को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्द्रियवृत्ति अचेतन है और जो अचेतन है वह पदार्थ के ज्ञान में साधकतम नहीं हो सकता । इन्द्रियवृत्ति क्या है ? इन्द्रियों का पदार्थ के पास जाना, पदार्थ की ओर अभिमुख होना अथवा पदार्थों के आकार का हो जाना । प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियाँ पदार्थ के पास नहीं जाती अन्यथा दूर से ही किसी पदार्थ के ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो पायेगी । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों का पदार्थ की ओर अभिमुख होना ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से उपचार से प्रमाण हो सकता है, वास्तव में तो प्रमाण ज्ञान ही है । तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों का पदार्थ के आकार का होना प्रतीति विरुद्ध है । जैसे दर्पण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ पदार्थ के आकार को धारण करते नहीं देखी जातीं । फिर भी यदि इन्द्रियवृत्ति होती है, ऐसा मान भी लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि वृत्ति इन्द्रिय से भिन्न है या अभिन्न । यदि अभिन्न है तो उसे इन्द्रिय ही कहा जाना चाहिए क्योंकि तब इन्द्रिय और उनकी वृत्ति एक ही हुई । परंतु निद्रावस्था में यदि इन्द्रिय और उसके व्यापार या वृत्ति की अभिन्नता मानी जाय तो सुप्त और जाग्रत् अवस्था में कोई अन्तर नहीं रहेगा । यदि वृत्ति को इन्द्रिय से भिन्न मानें तो इन्द्रिय वृत्ति की ही उपपत्ति नहीं हो पाती तो फिर उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है ।

बौद्धों के निर्विकल्पक ज्ञान को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानने पर विकल्प के आधार पर लिये जाने वाले लोक-व्यवहार आदि संभव नहीं हो सकेंगे । यदि बौद्ध यह कहें कि

निर्विकल्पक ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति है अतः वह प्रवर्तक है और प्रवर्तक होने से प्रमाण है, तो प्रश्न उठता है कि जो स्वयं निर्विकल्पक है वह विकल्प को कैसे उत्पन्न कर सकता है; क्योंकि निर्विकल्पक होने और विकल्प उत्पन्न करने की सामर्थ्य का परस्पर विरोध है^{१३} । यदि कहा जाये कि विकल्प वासना की अपेक्षा लेकर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विकल्पक को उत्पन्न कर सकता है तो विकल्पवासना सापेक्ष अर्थ ही विकल्प को उत्पन्न कर देगा, दोनों के बीच में एक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की आवश्यकता ही क्या है^{१४} और यदि निर्विकल्पक, विकल्प को उत्पन्न नहीं करता तो बौद्धों का यह कथन कि-

“यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता”^{१५}

अर्थात् ‘जिस विषय में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न कर सकता है, उसी विषय में वह प्रमाण है’ उनकी ही मान्यता के विरोध में आता है । फिर भी यदि सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न करने पर ही निर्विकल्पक का प्रामाण्य अभीष्ट है तो सविकल्पक को ही बौद्ध प्रमाण क्यों नहीं मान लेते क्योंकि वह अविसंवादक है, अर्थ की प्राप्ति में साधकतम है और अनिश्चित अर्थ का निश्चयात्मक भी है । अतः निर्विकल्पक ज्ञान को भी सन्निकर्ष की तरह प्रमाण नहीं माना जा सकता^{१६} ।

उसी प्रकार मीमांसकों के ज्ञातृव्यापार को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता । क्योंकि ज्ञातृव्यापार की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमानादि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती । फिर भी यदि ज्ञातृव्यापार का अस्तित्व मानें तो प्रश्न उठता है कि वह कारकों से जन्य है या अजन्य । अजन्य तो हो नहीं सकता क्योंकि वह एक व्यापार है । व्यापार तो कारकों से ही जन्य हुआ करता है । यदि जन्य है तो, वह भावरूप है या अभावरूप । अभावरूप हो नहीं सकता क्योंकि यदि अभावरूप ज्ञातृव्यापार से भी पदार्थों का बोध हो जाता है तो उसके लिये कारकों की खोज करना ही व्यर्थ है । पुनः ज्ञातृरूप व्यापार, ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप । यदि वह ज्ञानरूप है तो अत्यन्त परोक्ष नहीं हो सकता जैसा कि मीमांसक मानते हैं और यदि ज्ञातृरूप व्यापार अज्ञानरूप है, तो वह घट-पट की तरह प्रमाण नहीं हो सकता ।

उपरोक्त सभी समस्याओं के समाधान हेतु जैन दार्शनिक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं । ‘प्रमीयतेऽर्थास्तैरिति प्रमाणानि’^{१७} अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों को भली प्रकार से जाना जाय, वह प्रमाण है । इस व्युत्पत्ति के आधार पर आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है । उन्होंने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों को सम्यक् ज्ञान कहकर उन्हें स्पष्टतया प्रमाण प्रतिपादित किया है । उमास्वाति के परवर्ती आचार्य समन्तभद्र^{१८} (ई० सन् ५७५-६२५) ने अपने प्रमाण की परिभाषा में उमास्वाति का ही आधार ग्रहण करते हुए तत्त्वज्ञान को प्रमाण माना है । प्रमाण को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है - (१) युगपत्सर्वभासी (२) क्रमभासी जो स्याद्वाद नय से सुसंस्कृत होता है । यदि ध्यान दिया जाये तो उमास्वाति और समन्तभद्र के प्रमाण लक्षणों में शब्दभेद को छोड़कर कोई मौलिक अर्थभेद प्रतीत नहीं होता क्योंकि सम्यक्त्व और तत्त्व का एक ही अर्थ है - सत्य-यथार्थ । आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्वज्ञान को अन्यत्र ‘स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुविबुद्धि लक्षणम्’^{१९} कहकर स्वपरावभासक ज्ञान के रूप में उपन्यस्त किया है । वस्तुतः स्वपरावभासक ज्ञान का अभिप्राय भी सम्यग्ज्ञान ही है क्योंकि ज्ञान का सामान्य धर्म ही है अपने स्वरूप को जानते हुए परपदार्थ को जानना । समन्तभद्र की इस परिभाषा में न्यायावतारकर्त्ता (न्यायावतार के कर्त्ता सिद्धसेन दिवाकर नहीं हैं)^{२०} ने ‘बाधविवर्जित’ पद जोड़कर ‘प्रमाणं स्वपरभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्’^{२१} कहा । किन्तु ‘बाधविवर्जित’ पद विशेषण से जिस अर्थ की उपपत्ति होती है उसका संकेत आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्ज्ञान में प्रयुक्त ‘सम्यक्’ शब्द के द्वारा ही कर दिया था । उमास्वाति के सम्यग्ज्ञान प्रमाण की उपरोक्त परिभाषा को ही आधार मानकर **सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद**^{२२}, भट्ट अकलंक^{२३} (७वीं शती), विद्यानन्द (वि० १०वीं शती), माणिक्यनन्दी^{२४} (वि० १०वीं शती), हेमचन्द्र तथा अनंतवीर्य आदि परवर्ती आचार्यों ने भी अपनी प्रमाण सम्बन्धी परिभाषाएँ दीं ।

+ लेखक ने मूल स्तोत्र का जिक्र नहीं किया है । (संपादक)

प्रमाण के प्रकार

प्राचीन काल से ही प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूप से चले आ रहे हैं। यदि हम प्रमाणभेद की चर्चा को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखें तो आगमिक साहित्य में स्थानांग^{२३} और व्याख्याप्रज्ञप्ति^{२४} में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो प्रमाणों का उल्लेख मिलता है, जिनमें इन दो मुख्य प्रमाणों के अन्तर्गत ही पंचज्ञानों की योजना की गई है। परंतु साथ ही इनमें चार प्रमाणों का भी उल्लेख मिलता है^{२५}। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाणों के ये दो भेद इन दोनों ग्रन्थों में निर्युक्तिकार भद्रबाहु के बाद ही दाखिल हुए होंगे क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति, जो भद्रबाहुकृत मानी जाती है और जिसका आरंभ ही ज्ञान चर्चा से होता है, उसमें मति, श्रुत आदि विभाग से ज्ञान चर्चा तो है परंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणभेद की चर्चा का सूचन तक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्युक्ति के समय तक जैनाचार्य ज्ञानचर्चा करते तो थे पंचज्ञान के ही रूप में, किन्तु अन्य दर्शनों में प्रतिष्ठित प्रमाण चर्चा से पूर्णतः अनभिज्ञ भी नहीं थे। इसका प्रमाण हमें उसी भद्रबाहुकृत दशवैकालिकनिर्युक्ति^{२६} में मिल जाता है जिसमें परार्थानुमान की चर्चा की गई है, यद्यपि वह अवयवांश में अन्य दर्शनों की परार्थानुमान शैली से अनोखी है।

सम्भवतः सबसे पहले अनुयोगद्वार^{२७} में न्याय सम्मत प्रत्यक्ष अनुमानादि चार प्रमाणों को दाखिल किया गया। इसके पूर्व तो जैनाचार्यों की मुख्यविचार दिशा प्रमाणद्वय विभाग की ओर ही रही है। इसी परम्परा के अनुसार आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य^{२८} में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो प्रमाणों की ही चर्चा की है और प्रमाणचतुष्टय विभाग, जो मूलतः न्यायदर्शन^{२९} का है, को 'नयवादान्तरेण'^{३०} कहकर प्रमाणद्वय विभाग को ही जैन परम्परा सम्मत माना है। उन्होंने इन दो प्रमाणों में ही दर्शनान्तरीय अन्य प्रमाणों को भी अन्तर्भूत माना है।

भारतीय दर्शन के अन्य दार्शनिक निकायों में चार्वाक एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्यदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों को मानता है। नैयायिक सांख्य के तीन भेदों में उपमान को जोड़कर चार भेद स्वीकार करते हैं। मीमांसकों में प्रभाकरानुयायी चार भेदों में अर्थापत्ति को जोड़कर पाँच एवं कुमारिल भट्टानुयायी और वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के छः प्रमाण मानते हैं^{३१}। पौराणिक लोग 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' को मिलाकर आठ एवं तांत्रिक इसमें 'चेष्टा' नामक एक प्रमाण जोड़कर नौ प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। उमास्वाति ने इन सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव जैन दर्शन के प्रत्यक्ष व परोक्ष इन दो प्रमाणों में ही माना है^{३२}।

परोक्ष :- आचार्य उमास्वाति ने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों में 'आद्येपरोक्षम्'^{३३} कहकर आदि के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना है। इनको परोक्ष प्रमाण क्यों कहते हैं? इसके उत्तर में उनका कहना है कि ये दोनों ही ज्ञान निमित्त की अपेक्षा रखते हैं इसलिए ये परोक्ष हैं। परोक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और मन इन दोनों को निमित्त माना गया है।

प्रत्यक्ष :- 'प्रत्यक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों से मिलकर हुई है - प्रति + अक्ष = प्रत्यक्ष। 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति 'अश्' धातु से होती है जिसका अर्थ व्याप्त होना है।

इस प्रकार "अश्नुते व्याप्नोति विषयान् स्ववृत्त्या संयोगेन वा अक्ष" पद प्राप्त होता है जिसका अर्थ है जो ज्ञान रूप से सभी वस्तुओं में व्याप्त या विद्यमान होता है अर्थात् जीव। 'अश्' धातु से भी 'अक्ष' शब्द की उत्पत्ति संभव है। 'अश्' का अर्थ है भोजन करना। चूंकि जीव सभी पदार्थों का भोक्ता है इसलिए इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार भी 'अक्ष' का अर्थ आत्मा ही हुआ।

'अक्ष' शब्द का अर्थ इन्द्रिय भी किया जाता है। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष की जो परिभाषा दी गयी है, उसमें प्रयुक्त 'अक्ष' शब्द इन्द्रिय अर्थ का ही द्योतक है- "अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्"^{३४}। यहाँ 'अक्ष'

शब्द का अर्थ इन्द्रिय और वृत्ति का अर्थ है सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा न्यायदर्शन^{३५} का मत है ।

जैन परम्परा^{३६} 'अक्ष' शब्द का अर्थ जीव या आत्मा करती है और तदनुसार इन्द्रिय निरपेक्ष और केवल आत्मपरोक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानती है और इन्द्रियाश्रित ज्ञान को परोक्ष । कहीं-कहीं 'अक्ष' शब्द का इन्द्रिय अर्थ लेकर भी व्युत्पत्ति का आश्रय लिया गया है पर वह दर्शनान्तर प्रसिद्ध परम्परा तथा लोकव्यवहार के संग्रह की दृष्टि से । पूज्यपाद 'अक्ष' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि- "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानतीत्यक्ष आत्मा"^{३७} । 'अक्ष', 'व्याप' और 'ज्ञा' ये धातुएँ एकार्थक हैं, इसलिए अक्ष का अर्थ आत्मा होता है और "तमेवप्राप्तवृक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं वा प्रत्यक्षं"^{३८} अर्थात् क्षयोपशमवाले या आवरण रहित केवल आत्मा के प्रति जो नियत है या जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादि की अपेक्षा न होकर केवल क्षयोपशमवाले या आवरणरहित आत्मा से होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है 'अक्षं प्रतिनियतिमिति परापेक्षा निवृत्तिः' अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में पर की अपेक्षा नहीं होती ।

आचार्य उमास्वाति ने इसी आधार पर आत्मसापेक्ष और इन्द्रियादि की अपेक्षा के बिना होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है । तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य में उन्होंने इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है और मतिज्ञान और क्षुतज्ञान को छोड़कर अवधि, मनुःपर्यय और केवल को प्रत्यक्ष कहा है^{३९} । बाद के सभी जैनाचार्यों ने उमास्वाति की इसी परिभाषा को आधार बनाकर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का विवेचन किया है ।

न्यायावतारकर्ता ने अपरोक्ष रूप से ग्रहण किये जाने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है-

अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितिरञ्जेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया^{४०} ॥

परोक्ष क्या है, 'असाक्षादर्थं ग्राहकं ज्ञानं परोक्षमिति'^{४१} अर्थात् असाक्षात् अर्थ का ग्राहक परोक्ष है एवं जो अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् अर्थ का ग्राहक है वह प्रत्यक्ष है ।

भट्ट अकलंक के अनुसार "इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना जो व्यभिचार रहित साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमतीतव्यभिचारं साकार ग्रहणं प्रत्यक्षं"^{४२} ।" न्यायविनिश्चय में उन्होंने 'प्रत्यक्षलक्षणं' प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा^{४३} कहकर प्रत्यक्ष को परिभाषित किया है अर्थात् जो ज्ञान स्पष्ट है, वही प्रत्यक्ष है । इस परिभाषा में उपरोक्त परिभाषा में आये 'साकार' पद के साथ एक 'अञ्जसा' पद भी आया है । साकार का अर्थ है सविकल्पकज्ञान क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान को जैन दर्शन में प्रमाण नहीं माना गया है । 'अञ्जसा' पद पारमार्थिक दृष्टि का सूचक है । प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वह परमार्थ में भी विशद हो । वैशद्य का लक्षण करते हुए लघीयस्त्रय में उन्होंने कहा है कि

अनुमानाद्व्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्^{४४} ॥

अर्थात् अनुमानादि से अधिक नियत देश, काल और आकार रूप से प्रचुरतर विशेषों के प्रतिभासन को वैशद्य कहते हैं । दूसरे शब्दों में जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है । अनुमान में लिंगादि की आवश्यकता पड़ती है परंतु प्रत्यक्ष में किसी अन्यज्ञान की आवश्यकता नहीं होती ।

अवधेय है कि बौद्ध दार्शनिक भी विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं^{४५} परंतु वे केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष की सीमा में रखते हैं^{४६} । प्रत्यक्ष की उनकी परिभाषा है-'कल्पनापोढम् भ्रान्तं प्रत्यक्षम्' अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान को कल्पना स्वभाव, और किसी भी प्रकार के विपर्यय या भ्रान्ति से रहित होना चाहिए । जैन दार्शनिक परम्परा

को बौद्धों का उक्त निर्विकल्पक या कल्पनापोढ प्रत्यक्ष लक्षण मान्य नहीं है । भट्ट अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्राचार्य तथा अभिनवभूषण ने बौद्धों के उक्त प्रत्यक्ष का खण्डन किया है । कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि सर्वथा कल्पनापोढ है, तो प्रमाण ज्ञान है, प्रत्यक्षकल्पनापोढ है, इत्यादि कल्पनार्ये भी उसमें नहीं की जा सकेंगी और इस प्रकार उसके अस्तित्व आदि की कल्पना भी नहीं की जा सकेगी । उसका 'अस्ति' इस प्रकार से भी सद्भाव सिद्ध नहीं होगा एवं यदि उसमें इन कल्पनाओं का सद्भाव माना जाता है तो वह स्ववचन व्याघात है ।

अतः जैन दार्शनिक सविकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानकर विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि में रखते हैं; विशदता और निश्चयता विकल्प का अपना धर्म है और वह ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार इसमें पाया जाता है । अतः जिन विकल्पज्ञानों का विषयभूत पदार्थ बाह्य में नहि मिलता वे विकल्पाभास हैं, प्रत्यक्ष नहीं । माणिक्यनन्दी^{५५}, वादिदेवसूरि^{५६}, तथा हेमचन्द्र^{५७} ने प्रत्यक्ष को क्रमशः निम्नप्रकार से परिभाषित किया है ।

(क) विशदं प्रत्यक्षमिति

(ख) स्पष्टं प्रत्यक्षं

(ग) विशदः प्रत्यक्षं

माणिक्यनन्दी विशद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि-

“प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषोक्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यमिति” अर्थात् वह ज्ञान जो अन्य ज्ञान के व्यवधान से रहित होता है तथा जो विशेषणों के साथ प्रतिभासित होता है, उसे वैशद्य कहते हैं । हेमचन्द्राचार्य के अनुसार जिसका प्रतिभासन बिना किसी अन्य प्रमाण के होता है या यह 'इदन्तया' प्रतिभासित होता है, उसे वैशद्य कहते हैं 'प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्'^{५८} प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होने का कथन माणिक्यनन्दी एवं प्रभाचन्द्र का अनुसरण प्रतीत होता है । किन्तु इदन्तया प्रतिभास प्रत्यक्ष में ही होता है, अनुमानादि में नहीं । अतः विशदता की यह नयी विशेषता कही जा सकती है । प्रश्न उठता है कि जैन दर्शन में इन्द्रिय-व्यापार से जनित ज्ञान को अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय-व्यापार से रहित ज्ञान को परोक्ष क्यों नहीं कहा गया ? पूज्यपाद ने जैन ज्ञानमीमांसा के आधार पर इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैन दर्शन में सर्वज्ञ आप्तपुरुष प्रत्यक्ष-ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जानता है । यदि सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष इन्द्रिय के निमित्त से हो तो सर्वज्ञ समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष पूर्वक नहीं जान सकेगा, किन्तु आप्तपुरुष सर्वज्ञ है तथा वह समस्त पदार्थों का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष करता है । उसकी यह प्रत्यक्षता तभी सिद्ध हो सकती है, जब वह मात्र आत्मा द्वारा समस्त अर्थों को जानता हो^{५९} अ । पूज्यपाद के समाधान को अकलंक ने भी पुष्ट किया है ।^{६०}

अब प्रश्न उठता है कि इन्द्रियादि के बिना आत्मा को बाह्यार्थों का प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है ? अकलंक ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रथ का निर्माता तपोविशेष के प्रभाव से ऋद्धिविशेष प्राप्त करके बाह्य उपकरणादि के बिना भी रथ का निर्माण करने में सक्षम होता है, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष अथवा पूर्णक्षय से इन्द्रियादि बाह्य साधनों के बिना ही बाह्यार्थों को जानने में सक्षम होता है ।^{६०} * इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण का मुख्य लक्षण 'आत्मसापेक्ष एवं विशद या स्पष्ट ज्ञान' ही जैन परम्परा में मान्य है ।

प्रत्यक्ष के प्रकार :-

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उमास्वाति ने प्रत्यक्ष प्रमाण में अवधि, मनःपर्यय एवं केवल इन तीन ज्ञानों का ही समावेश किया है और इन्हीं की व्याख्या प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में की है । 'अक्ष' शब्द का अर्थ आत्मा मान लेने

पर एवं तदनुसार केवल आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मान लेने पर लोक-व्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से प्रसिद्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष की समस्या के समन्वय हेतु उमास्वाति के उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष के सांख्यव्यवहारिक-प्रत्यक्ष एवं पारमार्थिक-प्रत्यक्ष ये दो भेद किये । इन दोनों भेदों का कोई सूचन तत्त्वार्थाधिगम सूत्र या भाष्य में नहीं मिलता । उमास्वाति ने स्पष्ट रूप से इन्द्रियादि निमित्त से होने वाले ज्ञान को परोक्ष की संज्ञा दी है, प्रत्यक्ष की नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के आचार्यों ने कमोवेश नैयायिकों से प्रभावित होकर अपनी प्रत्यक्ष प्रमाणमीमांसा में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का समावेश किया और उमास्वाति के बताये अवधि, मनःपर्यय एवं केवल को पारमार्थिक-प्रत्यक्ष की संज्ञा दी । अतः हम प्रथमतया अवधि, मनःपर्यय की और केवल की ही विवेचना करेंगे एवं यथास्थान सांख्यव्यवहारिक-प्रत्यक्ष को भी संक्षिप्त व्याख्या करेंगे ।

[१] अवधिज्ञान :-

अवधि का अर्थ है - सीमा या मर्यादा, अर्थात् वह मर्यादित ज्ञान जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल रूपी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानता है, अवधि ज्ञान है । यह ज्ञान अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है ।

अवधिज्ञान दो प्रकार का है^{५१} - (१) भवप्रत्यय (२) गुणप्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तक)

(१) भवप्रत्यय :- नारक और देवों को जो अवधिज्ञान होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं^{५२} । 'भव' कहते हैं-आयुनाम कर्म के उदय का निमित्त पाकर होनेवाले जीव के पर्यायों को, और 'प्रत्यय' शब्द का अर्थ है-हेतु अथवा निमित्त कारण । अतः भव ही जिसमें निमित्त हो, वह भवप्रत्यय है । नारक और देवों के अवधिज्ञान में उस भव में उत्पन्न होना ही कारण माना गया है । जैसे पक्षियों का आकाश में गमन करना स्वभाव से या उस भव में जन्म लेने मात्र से ही आ जाता है, उसके लिए शिक्षा या तप कारण नहीं है उसी प्रकार जो जीव नरकगति या देवगति को प्राप्त होते हैं उन्हें अवधिज्ञान भी स्वतः ही प्राप्त हो जाता है^{५३} । उमास्वाति ने जो 'यथायोग्य'^{५४} शब्द का निर्देश किया है उसका तात्पर्य है कि सभी देव अथवा नारकियों को अवधिज्ञान समान नहीं होता । जिसमें जितनी योग्यता है उसके अनुसार उन्हें उतना ही होता है^{५५} । अवधेय है कि तीर्थंकर को जन्म से अवधि ज्ञान होने पर भी उनके अवधिज्ञान को भवप्रत्यय नहीं मानते क्योंकि उक्त अवधिज्ञान में तीर्थंकर की आत्मा के गुण कारणभूत हैं ।

प्रश्न उठता है कि देवों तथा नारकों को उस भव में जन्मग्रहण करने मात्र से अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हें व्रत नियमादि पालन करने की आवश्यकता नहीं होती तो मनुष्यादि को इसके लिए प्रयास क्यों करना पड़ता है ?

वस्तुतः क्षयोपशम तो सभी के लिए आवश्यक है । अन्तर साधन में है । जो जीव केवल जन्म मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है एवं जिन्हें इसके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है, उनका अवधिज्ञान क्षयोपशम निमित्तक या गुणप्रत्यय है । उमास्वाति 'देवनारकाणाम्' पद से सम्यग्दृष्टियों का ग्रहण करते हैं, क्योंकि सूत्र में अवधिपद का ग्रहण है । मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है । अतः उमास्वाति यह मानते हैं कि देव व नारकियों में भी उन्हीं को भव के प्रथम समय से अवधिज्ञान होता है, जो सम्यग्दृष्टि होते हैं । मिथ्यादृष्टियों को विभंगज्ञान होता है^{५६} ।

(२) गुण प्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तक):- क्षयोपशमनिमित्तक ज्ञान शेष दो गतिवाले जीव-तिर्यश्च और मनुष्य को होता है^{५७} । अवधिज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदय रहते हुए सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और अनुदय प्राप्त इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम इन दोनों के निमित्त से जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है^{५८} । तिर्यश्च और मनुष्य को होनेवाला यह गुणप्रत्यय-अवधिज्ञान सबको नहीं होता, उनमें भी जिनको

सामर्थ्य है उन्हीं को होता है । असंज्ञी और अपर्याप्तकों को यह सामर्थ्य नहीं है । संज्ञी और पर्याप्तकों में भी सबको यह सामर्थ्य नहीं होती, केवल उनको, जिनके सम्यग्दर्शनादि निमित्तों के मिलने पर अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त एवं क्षीण हो गया हो^{६१} । क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छः^{६०} प्रकार का होता है-

(१) अनानुगामी (२) अनुगामी (३) हीयमानक (४) वर्धमानक (५) अनवस्थित और (६) अवस्थित । आचार्य उमास्वाति ने इन छः ज्ञानों को इसी क्रम में रखा है । देववन्दि एवं भट्ट अकलंक ने क्रमशः सर्वार्थसिद्धि^{६२} और तत्त्वार्थवार्तिक^{६३} में इसे भिन्न क्रम में रखा है यथा—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित एवं अनवस्थित ।

(१) अनानुगामी^{६४}—जो अवधिज्ञान केवल अपने उत्पत्ति स्थल में ही योग्य विषयों को जानता है, अनानुगामी अवधिज्ञान है । जैसे—किसी ज्योतिषी या निमित्तज्ञानी आदि के विषय में देखा जाता है कि वह एक निश्चित स्थान पर ही प्रश्नों का उत्तर दे सकता है सर्वत्र नहीं । उसी प्रकार अनानुगामी अवधिज्ञान जिस स्थान पर उत्पन्न होता है उससे अन्यत्र वह काम नहीं कर पाता ।

(२) आनुगामी^{६५}—जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति स्थल और स्थानान्तर दोनों ही जगह अपने योग्य विषयों को जानता है, वह आनुगामी अवधिज्ञान है । जैसे—सूर्य पूर्व दिशा के साथ-साथ अन्य दिशाओं को भी प्रकाशित करता है ।

(३) हीयमानक^{६६}—असंख्यात द्वीप समुद्र, पृथ्वी, विमान और तिर्यक, ऊपर अथवा नीचे जितने क्षेत्र का प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है, क्रम से उस प्रमाण से घटते-घटते जो अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण तक के क्षेत्र को विषय करने वाला रह जाय तो उसे हीयमानक अवधिज्ञान कहते हैं । जैसे अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर भी यदि उससे योग्य ईंधन आदि न मिले तो धीरे-धीरे बुझने या कम होने लगती है ।

(४) वर्धमानक^{६७}—जो अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग आदि के बराबर प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ हो और उस प्रमाण से बढ़ता ही चला जाय तो उसे वर्धमानक अवधिज्ञान कहते हैं ।

(५) अनवस्थित^{६८}—जो अवधिज्ञान एक रूप न रहकर अनेक रूप धारण करे वह अनवस्थित अवधिज्ञान है । यह अवधिज्ञान उत्पन्न प्रमाण से कभी घटता है, कभी बढ़ता है और कभी छूट भी जाता है । जैसे किसी जलाशय की लहरें वायुवेग का निमित्त पाकर कभी ऊँची-नीची या कभी उत्पन्न तो कभी नष्ट हुआ करती हैं उसी प्रकार शुभ अथवा अशुभरूप जैसे भी परिणामों का इसको निमित्त मिलता है उसके अनुसार इस अवधिज्ञान की हानि, वृद्धि आदि अनेक अवस्थाएँ हुआ करती हैं ।

(६) अवस्थित^{६९}—वह अवधिज्ञान जो जितने प्रमाण क्षेत्र के विषय में उत्पन्न हो, उससे वह तबतक नहीं छूटता जबतक कि केवलज्ञान की प्राप्ति न हो जाय या उसका वर्तमान मनुष्य जन्म छूटकर उसे भवान्तर की प्राप्ति न हो जाय, अवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है । अर्थात् जिसे अवस्थित अवधिज्ञान होता है, उससे वह तबतक नहीं छूटता जबतक की उसको केवलज्ञानादि की प्राप्ति न हो जाय क्योंकि केवल ज्ञान क्षायिक है, उसके साथ क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकता । यदि उसी जन्म में केवल ज्ञान न हो, तो वह जन्मान्तर में भी उस जीव के साथ ही जाता है ।

गोम्मतसार में अवधिज्ञान के सामान्य से तीन^{७०} भेद किए गये हैं — देशावधि, परमावधि और सर्वावधि । भवप्रत्यय-अवधि नियम से देशावधि ही होता है तथा परमावधि एवं सर्वावधि नियम से क्षयोपशमनिमित्तक या गुणप्रत्यय ही होते हैं । गोम्मतसार^{७१} में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर भी अवधिज्ञान का एक विवेचन मिलता है जिसके अनुसार जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त अवधिज्ञान के जो असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं वे सब ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से प्रत्यक्षतया रूपी द्रव्य को ही ग्रहण करते हैं तथा उसके सम्बन्ध से संसारी जीव द्रव्य को भी जानते हैं किन्तु सर्वावधिज्ञान में जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं हैं । वह निर्विकल्प

एक प्रकार का है । आवश्यकनिर्युक्ति^{१३} में अवधिज्ञान को क्षेत्र, संस्थान, अवस्थित, तीव्र, मंद इत्यादि चौदह दृष्टिकोणों से विवेचित किया गया है । विशेषावश्यकभाष्य^{१४} में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव इन सात निक्षेपों के माध्यम से अवधिज्ञान को विश्लेषित किया गया है ।

[२] मनःपर्ययज्ञान :

जीव के द्वारा गृहीत और मन के आकार में परिणीत द्रव्यविशेषरूप मनोवर्गणाओं के आलम्बन से विचाररूप पर्यायों को बिना इन्द्रियादि साधनों के साक्षात् जान लेना मनःपर्यय ज्ञान है । सम्पूर्ण प्रमादों से रहित और जिसे मनःपर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम प्राप्त हो चुका है उसे ही यह अत्यंत विशिष्ट क्षायोपशमिक किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है^{१५} । जिससे वह मनुष्य लोकवर्ती मनःपर्याप्ति^{१६} धारण करनेवाले पंचेन्द्रिय प्राणिमात्र के त्रिकालवर्ती मनोगत विचारों को बिना इन्द्रिय और मन की सहायता के ही जान सकता है । आवश्यकनिर्युक्ति^{१७} के अनुसार मनःपर्यय ज्ञान का अधिकारी केवल मनुष्य ही होता है और मनुष्यों में भी, वह जो चारित्रवान होता है । नन्दीसूत्र^{१८} में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से मनःपर्ययज्ञान का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'द्रव्यादि की दृष्टि से मनःपर्ययज्ञान के अन्तर्गत वे पुद्गल द्रव्य जो मन के रूप में परिवर्तित होते हैं, वे आते हैं, क्षेत्र की दृष्टि से यह मनुष्य क्षेत्र में पाया जाता है, काल की दृष्टि से यह असंख्यात काल तक स्थित रहता है और भाव की दृष्टि से इनमें मनोवर्गणाओं की अनन्त अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं । संयम की विशुद्धता मनःपर्ययज्ञान का बहिरंग कारण है और मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम अंतरंग कारण है । इन दोनों कारणों के मिलने पर उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रिय-अनीन्द्रिय की सहायता के बिना मनुष्य के मनोगत विचारों को जान लेता है ।

विषयभेद की अपेक्षा से इस ज्ञान के दो भेद हैं : (१) ऋजुमति (२) विपुलमति^{१९}

ऋजुमति, जीव के द्वारा ग्रहण में आयी हुई और मन के आकार में परिणत द्रव्य विशेष रूप मनोवर्गणाओं के अवलम्बन से विचार रूप पर्यायों को इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा के बिना ही जानता है । ऋजुमति, ऋजु-सामान्य-दो-तीन एवं केवल वर्तमान पर्यायों^{२०} को ही ग्रहण करता है । जबकि विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान त्रिकालवर्ती, मनुष्य के द्वारा चिंतित, अचिंतित एवं अर्द्धचिंतित ऐसे तीनों प्रकार की पर्यायों को जान सकता है । ये दोनों ही प्रकार के ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं हुआ करते जबकि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी दर्शनपूर्वक होता है ।

मनःपर्यय ज्ञान के इन दोनों भेदों में उमास्वाति ने दो विशेषताएँ और बताई है - (१) विशुद्धकृत (२) अप्रतिपातकृत ।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा विपुलमति-मनःपर्ययज्ञान अधिक विशुद्ध हुआ करता है तथा विपुलमति अप्रतिपाती है । क्योंकि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होकर छूट भी जाता है, और एक ही बार नहीं अनेक बार उत्पन्न होकर छूट जाता है परंतु विपुलमति अप्रतिपाती होने से उत्पन्न होने के बाद भी जबतक केवलज्ञान प्रकट न हो तबतक नहीं छूटता ।

मनःपर्ययज्ञान की ग्रहणशक्ति के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ देखी जाती हैं-

(१) सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक^{२१} आदि ग्रन्थों में यह कहा गया है कि आत्मा के द्वारा मनःपर्ययज्ञान में मन के चिंतित अर्थ का साक्षात्कार होता है ।

(२) विशेषावश्यकभाष्य^{२२} के अनुसार मनःपर्ययज्ञान में आत्मा के द्वारा मन की पर्यायों का साक्षात्कार होता है फिर उसके आधार पर चिंतित अर्थ के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है ।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर :- उमास्वाति ने इन दोनों ज्ञानों में विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत,

स्वामिकृत और विषयकृत इन चार भेदों का उल्लेख किया है^{६१} ।

(१) विशुद्धिकृत - विशुद्धि का अर्थ निर्मलता है । अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान की विशुद्धि या निर्मलता अधिक होती है क्योंकि वह अपने विषय को अवधिज्ञान से अधिक विशद रूप में जानता है ।

(२) क्षेत्रकृत - दोनों में क्षेत्रकृत विशेषता यह है कि अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त है । जबकि मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण है, वह उतने क्षेत्र के भीतर ही संज्ञी जीवों की मनोगत पर्यायों को जानता है ।

(३) स्वामीकृत-अवधिज्ञान संयमी साधु, असंयमी जीव तथा संयतासंयत श्रावक इन सभी को हो सकता है तथा चारों ही गतिवाले जीवों को हो सकता है; जबकि मनःपर्ययज्ञान प्रमत्त संयत से लेकर क्षीणकषाय-गुणस्थान तक के उत्कृष्ट चारित्र से युक्त जीवों में ही पाया जाता है ।

(४) विषयकृत-ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाना जाय उसे ज्ञेय अथवा विषय कहते हैं । विषय की दृष्टि से अवधिज्ञान, रूपी द्रव्यों^{६२} एवं उसकी असम्पूर्ण पर्यायों को जानता है परंतु अवधि के विषय का अनन्तवाँ भाग मनःपर्यय का विषय है^{६३} अतः अवधि की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान का विषय अति सूक्ष्म है ।

[३] केवलज्ञान :-

केवलज्ञान का विषय सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी सभी पर्यायें हैं^{६४} । जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होनेवाली अनंतान्त पर्यायें हैं । अतः जो ज्ञान इन सबको जानता है वह केवलज्ञान है । वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विशिष्ट तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है और सम्पूर्ण लोक-अलोक को विषय करता है । इससे उत्कृष्ट और कोई भी ज्ञान नहीं है और न ही कोई ऐसा ज्ञेय है जो केवलज्ञान का विषय न हो । इसे केवल, परिपूर्ण, समग्र, असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्वभावज्ञापक लोकालोक विषय और अनन्तपर्यायज्ञान भी कहते हैं । यह अपनी तरह का अकेला ज्ञान है इसलिए इसे केवल ज्ञान कहते हैं ।

सांख्यव्यवहारिक एवं पारमार्थिक-प्रत्यक्ष :- उमास्वाति ने प्रत्यक्ष के अन्दर अवधि, मनःपर्यय एवं केवल इन तीन आत्मसापेक्ष एवं इन्द्रिय-अनिन्द्रिय की सहायता के बिना होनेवाले ज्ञानों को ही लिया है । बाद में जब आगमिक विचार प्रक्रिया में तार्किकता का प्रवेश हुआ तो ऐसा महसूस किया जाने लगा कि लोकव्यवहार में प्रसिद्ध इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष की समस्या के समन्वय हेतु इन्हें भी प्रत्यक्ष में शामिल किया जाना चाहिए । नन्दीसूत्रकार^{६५} ने सम्भवतः सबसे पहले इन दोनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष में शामिल कर प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष नामक दो विभाग किये । इसके बाद जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने विस्तृत भाष्य में द्विविध प्रमाण विभाग में आगमिक पंचज्ञान विभाग (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल) का तर्कपुरस्सर समावेश किया और अनुयोगद्वारकर्ता एवं नन्दीकार द्वारा स्वीकृत इन्द्रियजन्य एवं नोइन्द्रियजन्यरूप से द्विविध प्रत्यक्ष के वर्णन में आने वाले उसे विरोध का परिहार सांख्यव्यवहारिक एवं पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसे दो नाम देकर सर्वप्रथम करने का प्रयास किया, जिसे भट्ट अकलंक^{६६}, हेमचन्द्राचार्य^{६७} आदि परवर्ती विद्वानों ने भी अपनी प्रमाण मीमांसा में स्थान दिया । इन दोनों प्रत्यक्षों का संक्षिप्त परिचय यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा ।

(१) सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष - बाधारहित प्रवृत्ति-निवृत्ति और लोगों का बोलचाल रूप व्यवहार, संख्यव्यवहार कहलाता है । इस संख्यव्यवहार के लिए जो प्रत्यक्ष माना जाय वह सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । यह अपारमार्थिक प्रत्यक्ष पाँच इन्द्रियों एवं मन की सहायता से उत्पन्न होता है । यह दो प्रकार का है - (१) इन्द्रियज (२) अनिन्द्रियज^{६८} ।

चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले को इन्द्रियज और मनोजनित को अनिन्द्रियज कहते हैं । ध्यातव्य है कि इन्द्रियजनित ज्ञान में भी मन का व्यापार होता है तथापि मन वहाँ साधारण कारण एवं इन्द्रिय असाधारण कारण होने से उसे इन्द्रियज या इन्द्रिय सांख्यवहारिक-प्रत्यक्ष कहते हैं । इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की सहायता से होने वाले ज्ञान को आचार्य उमास्वाति ने-तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्^१ कहकर इसे मतिज्ञान की श्रेणी में रखा है और इसे प्रत्यक्ष न मानकर परोक्ष ज्ञान कहा है । इन्द्रिय निमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक ज्ञानरूप मतिज्ञान के ४ भेद^२ किए गए हैं- (१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय (अपाय) और (४) धारणा ।

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्धित होने पर जो सामान्यज्ञान होता है, जिसमें कोई विशेषण, नाम या विकल्प नहीं होता उसे अवग्रह कहते हैं । यह दो प्रकार का है - व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह ।

ईहा - अवग्रह द्वारा गृहीत ज्ञान को विशेष रूप से जानने की इच्छा ईहा है ।

अवाय (अपाय) - ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में निर्णयात्मक ज्ञान अवाय है ।

धारणा - अवाय से जिस अर्थ का बोध होता है उसका अधिक काल तक स्थिर रहना या स्मृतिरूप हो जाना धारणा है^३ ।

(२) पारमार्थिक या मुख्य-प्रत्यक्ष :- पारमार्थिक-प्रत्यक्ष पूर्णरूपेण विशद होता है । जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में मात्र आत्मा के ही व्यापार की अपेक्षा रखता है, मन और इन्द्रियों की सहायता जिसमें अपेक्षित नहीं है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है^४ ।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं - (१) अवधि (२) मनःपर्यय और (३) केवल जिसका विवेचन हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण की जो व्याख्या आचार्य उमास्वाति ने की है उसका मुख्य आधार आगमिक परम्परा मान्य प्रमाणद्वय ही रहा है, इसीलिए उन्होंने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये । प्रत्यक्ष के अन्तर्गत उन्होंने सीधे आत्मा से होने वाले अवधि, मनःपर्यय एवं केवल इन तीन ज्ञानों को ही लिया और इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष की कोटि में रखा । परवर्ती आचार्यों ने इन्द्रिय और मन सापेक्ष प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक-प्रत्यक्ष की संज्ञा दी एवं अवधि, मनःपर्यय और केवल को पारमार्थिक-प्रत्यक्ष कहा । वस्तुतः देखा जाय तो यह इन्द्रिय-मन प्रत्यक्ष भी अनुमान के समान परोक्ष ही है, क्योंकि उनमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय हो सकते हैं जैसे-असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक अनुमान । जैसे शाब्द ज्ञान संकेत की सहायता से होता है और अनुमान व्याप्ति के स्मरण से उत्पन्न होता है, अतएव वे परोक्ष हैं उसी प्रकार सांख्यवहारिक-प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन तथा आत्मव्यापार की सहायता से उत्पन्न होता है, अतः वह भी परोक्ष ही है । संभवतः उमास्वाति को इन तथ्यों का ज्ञान था इसलिए उन्होंने इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' कहकर उसे परोक्ष की कोटि में रखा । भट्ट अकलंक, हेमचंद्र आदि आचार्य जिन्होंने इन्द्रियमनोनिमित्तक प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक-प्रत्यक्ष की संज्ञा दी, उन पर नन्दीसूत्रकार के इन्द्रिय-अनिन्द्रिय रूप से किए गये प्रत्यक्ष विभाग तथा नैयायिकों के 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं' रूप से की गई प्रत्यक्ष की परिभाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । ऐसा नहीं था कि उमास्वाति नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा से परिचित नहीं थे क्योंकि 'नयवादान्तरेण' कहकर तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष के अतिरिक्त अनुमान-उपमानादि प्रमाणों को नैयायिकों का कहकर, उन सारे प्रमाणों को इन्हीं दो मुख्य प्रमाणों में अन्तर्भूत माना है, पर यह जरूर था कि उनसे वे प्रभावित नहीं थे । फिर उमास्वाति की प्रत्यक्ष की परिभाषा में ऐसा कोई दोष परिलक्षित नहीं होता जिसका परिहार सांख्यवहारिक-प्रत्यक्ष को मानलेने मात्र से हो गया हो । क्योंकि परवर्ती आचार्य भी अवधि, मनःपर्यय और केवल को पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो मानते ही हैं । अतः उमास्वाति द्वारा

प्रत्यक्ष प्रमाण विवेचन जो तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य में हुआ है, वह अपने आप में पूर्ण है इसमें कोई संदेह नहीं है।

संदर्भसूची :

१. सर्वार्थसिद्धि संपा० पं० फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली १९९१, "प्रस्तावना" पृ० ६२.
२. षट्खण्डागम (धबला टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) : पुष्पदन्त भूतबलि, जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, प्रथम आवृत्ति, अमरावती १९५९.
३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, संपा० श्री विद्यानन्द मनोहरलाल शा, रामचन्द्र नथरंगजी गांधी, मांडवी, बम्बई १९१८, पृ० ६.
४. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, वीरसेवा मन्दिर सरसावा, सहारनपुर १९५६, पृ० २०२.
५. सागरमल जैन, तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा, पार्श्वनाथ शोध-पीठ, वाराणसी १९९४, पृ० ४.
६. प्रमाणपरीक्षा, संपा० दरबारीलाल कोठिया, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी १९७७, पृ० ९.
 - (अ) प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् ।
पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, १/१०, पृ० ७०.
 - (ब) प्रमीयन्तेऽर्थास्तेरिति प्रमाणानि ।
उमास्वाति, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास १९३२, १/१२.
७. न्यायभाष्य, संपा० आचार्य हुंढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी वि० सं० २०३९, पृ० १८.
८. न्यायमञ्जरी, जयन्त भट्ट, संपा० के० एस० वरदाचार्य, Oriental Research Institute, Mysore, 1969, p. 12.
९. न्यायबिन्दु, चौखम्भा सिरीज काशी पृ० १३.
१०. अथ संनिकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः । यदि संनिकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृतानामर्थानाम् अग्रहणप्रसंगः । सर्वार्थसिद्धि, १/१० पृ० ६९.
११. वही - १/१९.
१२. जैनन्याय, संपा० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी १९८८, पृ० २७.
१३. न्यायकुमुदचन्द्र : प्रभाचन्द्राचार्य, संपा० पं० महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई वी० नि० सं० २४६४ / ईस्वी १९३७, पृ० ५०.
१४. वही, पृ० ३३.
१५. जैनन्याय, पृ० ७२.
१६. मतिश्रुत-अवधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् । तत्प्रमाणे । - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र - १/९-१०.
१७. (अ) समन्तभद्र, बृहत्स्वयंभुस्तोत्र. संपा० पं० जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर सरसावा, सहारनपुर १९५१, का० ६३.
 - (ब) तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वाङ्मयसंस्कृतम् ।। आत्ममीमांसा, समन्तभद्र, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी १९७५, गा० १०१.
१८. (I) Since the *Nyāyāvatāra* (wrongly ascribed to Siddhasena) incorporates verses from the Buddhist dialections *Diṅnāga* (c. A. D. 480-560 or earlier), *Samantabhadra* (c. A. D. 575-625), *Yogīndra* (c. 7th Century) and *Pātrakesari* (c. A. D. 700), all Digambar Saints, it was rightly thought to be a late work by Digambar scholars. What Siddhasena wrote was, *Dvādaśāranayacakra* of Mallavādi according to the commentary by *Siṃha-Sura* *Ṣaṃāśramaṇa* (c. A. D. 675) on (c. A. D. 525-575) a work entitled '*Nayāvatāra*' not '*Nyāyāvatāra*', the latter in all probability being the work by Siddharṣi (late 9th early 10th century) not Siddhasena. Cf. M. A. Dhaky.- '*The Jina Image and Nirgrantha agamic and hymnic imagery*' A paper presented in Seminar on 'The Sastric Tradition in

Indian Art' footnote p. 102, Heidelberg 1985; also his 'The Date and Authorship of Nyāyāvātāra' in Nirgrantha. Vol. 1, 1995, p. 45.

१९. न्यायावतार, संपा० सतीशचंद्र विद्याभूषण एवं डॉ० सत्यरंजन बनर्जी, संस्कृत बुक डिपार्ट, कलकत्ता १९८१, का० १.
२०. "प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।" अष्टसहस्री, विद्यानन्द (अनु० आर्यिका श्री ज्ञानमती), दिगम्बर जैन त्रिलोक संस्थान, हस्तिनापुर-मेरठ १९७४, पृ० १७५.
२१. गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति ।
तत्रलोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥७९
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, संपा० आचार्य कुन्थूसागर, कुन्थूसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर वीर सं० २४९५ / ईस्वी १९६८, तृतीय खण्ड, पृ० ९८.
२२. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।
परीक्षामुख : माणिक्यनन्दि, संपा० पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक : श्री बालचन्द्र जैन शास्त्री, बनारस १९२८. १/१.
२३. दुविहे नाणे पण्णते - तं जहा-पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव ।
स्थानांग, संपा० मुनि जम्बूविजय, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई १९८५, बीयं अज्झयणं, पढमो उद्देशो-६०, ग्रन्थांक ३.
२४. से किं तं पमाणे ? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ति तं जहा पच्चक्खे जहा अणुओग दारे तथा णेयव्वं ।
वियाहपण्णत्ति, महावीर जैनविद्यालय, मुम्बई १९७८, ५/३/२ पृ० १११, ग्रन्थांक ४.
२५. (अ) अहवा हेउ चउव्विहे पं. तं पच्चक्खे अणुमाणे, ओवम्वे आगमे । - स्थानांग - ४१३/३३६ प० १४९.
(ब) पमाणे चउव्विहं पण्णत्ति-वियाह-पण्णत्ति-५/३/२ पृ० १११.
२६. दशवैकालिकनिर्युक्ति महावीर जैनविद्यालय, बम्बई १९७७, गाथा-५०.
२७. अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र अनुयोगदाराई, संपा० पं० बेचरदास दोशी, महावीर जैनविद्यालय, बम्बई १९७८, सू० ५९.
२८. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, संपा० पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९७६, १/१०-१२.
२९. न्यायसूत्र, संपा० श्रीमद् जीवानन्द विद्यासागर एवं श्रीनित्यबोध विद्यारत्न, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली १९८६, १/१/३.
३०. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र- १/६
३१. (अ) वैशेषिकसूत्र, संपा० आचार्य हुंढीराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९७७, १/२/३.
(ब) सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, संपा० रमाशंकर त्रिपाठी, भदौनी, वाराणसी १९७८, का० ४.
(स) न्यायसूत्र, १/१/३.
(द) प्रकरणपंचिका : शालिकनाथ, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, पृ० ४४.
(य) शास्त्रदीपिका, संपा० पार्थसारथि मिश्र, निर्णयसागर, प्रथम संस्करण, मुंबई १९१५, पृ० २४६.
३२. सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात् । सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/१२.
३३. वही १/११.
३४. न्यायदर्शनम् (वात्स्यायन भाष्य), संपा० आचार्य हुंढीराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी वि० सं० २०३९, १/१/३.
३५. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान....प्रत्यक्षम् । - न्यायदर्शनम् १/१/४.
३६. (अ) सर्वार्थसिद्धि-१/१२.
(ब) 'जीवो अक्खो अत्थव्वावणमोयण मुणाण्णिओ जेण'
विशेषावश्यकभाष्य, संपा० पं० दलसुख मालवणिग्या एवं पं० बेचरदास दोशी, ला० द० भा० सं० वि० मंदिर, अहमदाबाद १९६८, पृ० ८९.
(स) तथा च भगवान् भद्रबाहु जीवो अक्खो तं पई जं वड्ढइ तं तु होइपच्चक्खं - न्यायावतार टि० प० ९५.
(द) 'अक्षोति व्याप्नोति जानाति' इति अक्ष आत्मा ।

तत्त्वार्थवार्तिक, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता १९३९, १/१२.

३७. सर्वार्थसिद्धि-१/१२.
३८. वही १/१२.
३९. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/१२.
४०. न्यायावतार का० ४.
४१. न्यायावतारविवृति का० ४. पृ० ३.
४२. इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यधिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् । - तत्त्वार्थवार्तिक १/१२.
४३. न्यायविनिश्चय-श्लोक-३.
४४. लघीयस्त्रय, संपा० न्यायकुमुदचन्द्र, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता १९३९, ४.
४५. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्
तत्त्वसंग्रह : कमलशील, संपा० द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, प्रथम संस्करण, वाराणसी १९६८, का० १२४२.
४६. तच्च ज्ञानरूपवेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पं अभ्रांतं च । ततः प्रत्यक्षं ।
न्यायबिन्दु, सं० पी० आई० तर्कस, नूतन मुद्रणालय, अकोला १९५२, १.१०.
४७. परीक्षामुख २-३.
४८. प्रमाण-नय-तत्त्वालोक, अनुवादक पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ, आत्मजागृति कार्यालय, ब्यावर १९४२, २.२.
४९. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्राचार्य, संपा० जिनविजयजी, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, अहमदाबाद-कलकत्ता १९३९, १/१/१३.
५०. 'इदन्त्या प्रतिभासो वा' इति इदन्त्या विशेषनिष्ठतया यः प्रतिभासः सम्यग्दर्शननिर्णयस्य सोऽपि वैशद्यम् । प्रमाणमीमांसा-१/१/१४.
५०. अ- सर्वार्थसिद्धि-१/१२.
५०. ब- तत्त्वार्थवार्तिक, अकलंक, सम्पा० महेन्द्र कुमार 'न्यायाचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी १९५३, भाग-१, पृ० ५३-५४.
५०. क- वही पृ० ५३.
५१. द्विविधोऽवधिः । सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/२१.
५२. नारकाणां देवानां च यथास्त्वं भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति । वही-१/२२.
५३. वही-१/२२.
५४. यथास्त्वं भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति । वही-१/२२.
५५. देवानामपि यद् यस्य सम्भवति तच्च यथास्त्वमिति विज्ञेयम् भवप्रत्ययं भवकारणं अधोऽधो विस्तृतविषयमवधिज्ञानं भवति ।
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (श्री सिद्धसेनगणिभाषानुसारीणीटीका) संशोधक एच० आर० कापडिया, सेठ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड,
ग्रन्थांक-६७, बम्बई १९२६, भाग-१. १/२२ पृ० ९६.
५६. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/३२.
५७. शेषाणामिति नारकदेवेभ्यः शेषाणां तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां च । - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/२३.
५८. सर्वार्थसिद्धि १/२२ पृ० ९०.
५९. यथोक्तसम्यग्दर्शनादिनिमित्तसंनिधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति । वही १/२२, पृ० ९०.
६०. तद्यथा-अनानुगामिकं, आनुगामिकं, हीयमानकं, वर्धमानकं, अनवस्थितम्, अवस्थितमिति । - सभाष्यतत्त्वार्थाधि० १/२३.
६१. सर्वार्थसिद्धि १/२२.
६२. तत्त्वार्थवार्तिक १/२२.
६३. सभाष्यतत्त्वार्थाधि० १/२२.

६४. वही १/२२.
 ६५. वही १/२२.
 ६६. वही १/२२.
 ६७. वही १/२२.
 ६८. वही १/२२.
 ६९. देसोही, परमोही, सव्वोहि ति य तिधा ओही ।
 गोम्मटसार-जीवकाण्ड, ३७२, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास वि० सं० २०४१/ई० सन् १९८५.
 ७०. गोम्मटसार-जीवकाण्ड-३७६.
 ७१. आवश्यकनिर्युक्ति, श्री भेरूलाल कनैयालाल कोठारी, धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई वि० सं० २०३८/ ई० स० १९८२, २६-२८.७६.
 ७२. विशेषावश्यकभाष्य, गा० ५८०.
 ७३. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/२४, पृ० ४२.
 ७४. आहारसरीरिंदियपज्जती आणपाणभास माणो । - गोम्मटसार-जीवकाण्ड, ११८.
 ७५. आवश्यकनिर्युक्ति, ७६.
 ७६. नन्दीसूत्र (नन्दीसूत्र अनुयोगदारई), २३-२५.
 ७७. ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः । - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, १/२४.
 ७८. गोम्मटसार-जीवकाण्ड-४४०.
 ७९. सर्वार्थसिद्धि-१/९, तत्त्वार्थराजवार्तिक-१. २६.
 ८०. विशेषावश्यकभाष्य-८४.
 ८१. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/२६.
 ८२. वही १/२८.
 ८३. तदन्तभागे मनःपर्यायस्य ।
 वही-१/२९.
 ८४. वही १/३०.
 ८५. नन्दीसूत्र-३.
 ८६. एगन्तेण परोक्खं लिंगिय मोहाइयं च पच्चक्खं ।
 इन्दिय मणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं ।। - विशेषावश्यकभाष्य. गा० ९५.
 ८७. (अ) तत्रसंव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियम् प्रत्यक्षम् । - लघीयस्य-४.
 (ब) मुख्यसांव्यवहारिकधेदेन द्वैविध्यं प्रत्यक्षस्य... - प्रमाणमीमांसा-१/१४.
 (स) प्रत्यक्षं द्विविधं-सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति ।
 जैन तर्कभाषा, संपा० पं० सुखलालजी संघवी, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद १९९३, पृ० २.
 ८८. एतच्च द्विविधं—इन्द्रियजम्, अनिन्द्रियजं च । - वही, पृ० २.
 ८९. सभाष्यतत्त्वार्थाधि. १/१४.
 ९०. अवग्रहेहापायधारणाभेदाच्चतुर्विधम् - जैनतर्कभाषा. पृ० ३.
 ९१. प्रमाणनयतत्त्वालोक २.८.
 ९२. स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम् । - जैनतर्कभाषा. पृ० ७.